IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

रस का उद्भव और विकास

(चन्द्र किशोर) असि0 प्रोफेसर, संस्कृत – विभाग, ब्रह्मावर्त पी0जी0 कालेज, मन्धना, कानपुर नगर, उ0प्र0।

सारांश

हार्दिक आनन्दातिरेक के सूचक बच्चों के खेल–कूद ही दृश्यकाव्य के उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी इष्ट–वस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी अनिष्ट का जिस किसी तरह निवारण होता है, तब उनक ` हृदय में आनन्द की बाढ़–सी आ जाती है। उस आनन्द की बढ़ी–बाढ़ को वे अपने छोटे हृदय–सरोवर में केन्द्रित नहीं कर पाते, फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके अङ्ग– अङ्ग में फूट पड़ता है और वे उछल–कूद मचाने लगते हैं। आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों से सहानुभूति रखने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों का यह आनन्द प्रदर्शन (उछल–कूद) बड़े अभिवावकों को भी रूचिकर ही लगता है। बच्चों की उछल–कूद का मुख्य विषय वह 'आनन्द' ही साहित्यिक परिभाषा में 'रस' कहा जाता है।

प्रस्तावना

बच्चों के आनन्द–प्रदशर्न से जब लागों ने अपना मनोरंजन होते देखा, तब कुछ जागरूक और कल्पनाशील हृदय वालों ने इस मनोरंजक साधन का अनुकरण करके मनोरंजन करने की परिपाटी चलाई। पीछे उस युग के कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक सोंचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उछल–कूदों के साथ तदनुकूल वाणी भी रहे तो लोगों का और अधिक मनोरंजन हो सकता है, इस निष्कर्ष के अनुसार वे अतीत अथवा वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को पद्यबद्ध करके उनका अनुकरण करने–कराने लगे जो वस्तुतः मूल अनुकरण से अधिक रोचक सिद्ध हुआ । आज भी उसी तरह के अनुकरणात्मक पद्यवद्ध खेल ग्रामों में यत्र–तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

मुख्यशब्द

आनन्दातिरेक, इष्टवस्तु की प्राप्ति, आनन्द–प्रदर्शन, हृदय–सरोवर, उछल–कूद, सहानुभूति, मनोरंजक–साधन, उद्भव, विकास।

अध्ययन का उद्देश्य

रस की उत्पत्ति एवं विकास क्रम का निर्धारण करना।

रस शब्द संस्कृत–वाङ्मय के अत्यन्त प्राचीन शब्दों में से है, जिसका प्रयोग वेदों में भी हुआ है। रस शब्द का व्यूत्पत्तिलब्ध अर्थ है– आस्वाद, किन्तु इसके अतिरिक्त इसका एक अन्य अर्थ है, जिसे द्रव्यत्त्व या तरल पदार्थ भी कहते हैं। रस की व्यूत्पत्ति दो प्रकार से होती है–

1. रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। 2. सरते इति रसः। प्राचीन भारतीय–वाङ्मय में रस शब्द का प्रयोग मुख्यतः चार अर्थों में हुआ है–

1. पदार्थों का रस या षड्रस के रूप में, जैसे–तिक्त, मधुर, कटु, अम्ल, कषाय और लवण।
2. आयुर्वेद में रस, जिसका अर्थ रसायन या रसौषधि है।
3. साहित्य में नवरस– श्रङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त।
4. भक्ति रस या मोक्ष।

भारतीय–वाङ्मय में रस को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु इस आत्मस्वरूप रसतत्त्व का उद्भव कब और कैसे हुआ तथा इसका विकास क्रम क्या है ? इस पर विचार करना अति आवाश्यक है। रस का उद्भव

रस पर कछु कहने से पूर्व दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के विषय में जानना अतिआवश्यक है, क्योंकि दृश्यकाव्य के द्वारा ही रस का अनुभव स्पष्टरूप से किया अथवा कराया जा सकता है– हार्दिक आनन्दतिरेक के सूचक बच्चों के खेल–कूद ही दृ यकाव्य के उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी इष्टवस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी अनिष्ट का जिस किसी प्रकार से निवारण होता है, तब उनके हृदय में आनन्द की बाढ़ सी आ जाती है। उस आनन्द की बढ़ी–बाढ़ को वे अपने छोटे हृदय–सरोवर में केन्द्रित नहीं कर पाते, फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके अङ्ग–अङ्ग में फूट पड़ता है। और वे उछल–कूद मचाने लगते हैं। आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों से सहानुभूति रखने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों का यह आनन्द पद्र र्शन (उछल–कूद) बड़े अभिभावकों को भी रूचिकर प्रतीत होता है। [1] जब लोगों ने इस तरह के आनन्द–प्रदर्शन से अपना मनोरंजन होते देखा, तब कुछ जागरूक और कल्पना–शील हृदय वालों ने इस मनोरंजक–साधन का अनुकरण करके मनोरंजन करने की परिपाटी चलाई। पीछे इस युग के कवियों ने इस सम्बनध में कुछ और अधिक सोंचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उछल–कूदों के साथ तदनुकूल वाणी भी रहे तो लोगों का और अधिक मनोरंजन हो सकता है। इस निष्कर्ष के अनुसार वे अतीत अथवा वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओ ं को पद्यवद्ध करने उनका अनुकरण करने –कराने लगे, जो वस्तुतः मूल अनुकरण से अधिक रोचक सिद्ध हुआ। आज भी उसी तरह के अनुकरणात्मक पद्यबद्ध खेल ग्रामों में यत्र–तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। [2]

उन्हीं अनकु रणों का नाम पीछे आकर अभिनय पड़ा। जिस पर पश्चात् अनेक पुस्तकें लिखी गई, उसके अनेक भेद (आङ्गिक, वाचिक आदि) किये गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि उन्हीं अभिनयों के विकसित रूप आज के दृश्यकाव्य–नाटक, ड्रामा आदि हैं। [3] प्रारम्भ में ऊहा–पोह वाले शिक्षित जन उन अभिनयों से आनन्दित होकर यह सोंचने के लिए अन्तःकरण के द्वारा विवश किए गए कि नाटकीय वस्तुओं में वह कौन–सी वस्तु है, जिसमें यह आनन्द छिपा रहता है। उन तर्कशील मानवों की गवेषणा का विषय वह आनन्द ही साहित्यक परिभाषा मे 'रस' कहा जाता है, क्योंकि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार–रस शब्द का अर्थ होता है –'वह वस्तु विशेष जिसका आस्वादन किया जा सके'– 'रस्यते ≈ आस्वाद्यते इति रसः।' [4]

एक अन्य विचारधारा के अनुसार इस रस (नाट्यरस) के आदि कर्ता–धर्ता के रूप में भगवान शिव को माना जाता है, क्योंकि नाट्य या नाटक के प्रमुख तत्त्वों–वस्तु, नेता और रस में 'रस' एक प्रमुख तत्त्व है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार देवताओं ने ब्रह्मा जी से निवेदन किया कि हे ब्रह्मदेव! युद्ध से प्राप्त क्लान्त को दूर करने हेतु हमारे लिए किसी मनोरंजन की व्यवस्था करें, जिससे हमें पूर्ण विश्रान्ति मिल सके। देवताओं के इस निवेदन पर ब्रह्मदेव भगवान् शिव के पास गये और निवेदन किया कि कि हे महादेव! दवे ताओं के मनोरंजन का कोई उपाय बताएं । तब भगवान् शिव ने 'नाट्य' का अविष्कार किया और इसका उपदेश नन्दि (शिवगण) को दिया। नन्दि ने ब्रह्माजी को नाटय् में प्रशिक्षित किया, तब ब्रह्मा जी ने योगासन में बैठकर चारों वेदों का स्मरण करके– ऋग्वेद से पाठ्य (विषय), यजवु र्द से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस तत्त्व को लेकर नाट्यवेद नामक पंचमवेद की रचना की– जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। [5] रस का विकास

बहुत कुछ सोंचने विचारने के बाद उन तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि नट अथवा नटी को अभिनय करते देखकर जिस प्रेमी या प्रेमिका का स्मरण दशर्क ों को हो आता है और उन स्मृति पथारूढ़ प्रेमी–प्रेमिकाओं के बार–बार अनुसन्धान करने से एक विशेष प्रकार का आनन्द अनुभूत होने लगता है, वह प्रेम का आलम्बन विभाव ही साहित्यिक परिभाषा में रस है। तदनसु ार कुछ दिनों तक यह स्थूल सिद्धान्त प्रचलित रहा कि– आस्वाद्यमान विभाव ही रस है– 'भाव्यमानो विभाव एव रसः । [6] कुछ दिनों पश्चात् लोगों की विचारधारा मे परिवर्तन हुआ, उक्त सिद्धान्त असंगत प्रतीत होंने लगा, क्योंकि उन परिवर्तित विचारधारा वाले आलोचकों ने सोंचा कि यदि आलम्बन विभाव ही रसरूप हो, तब उन आलम्बन विभाव–स्थानीय नट में रति आदि के अनुकूल चेष्टाओं के नहीं रहने पर भी उसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होना चाहिए, परन्तु वह होता नहीं। अतः विभाव रस नहीं है, प्रत्युप्त उसकी वे चेष्टाएं अर्थात् अनुभाव ही रस है, जो पुनः पनु : भाव्यमान होकर आनन्द देता है। इस विचार के अनुसार यह सिद्धान्त आपततः स्थिर हुआ कि –पुनः पुनः अनुसन्धीयमान अनुभाव ही रस है– 'अनुभावस्तथा।' [7] इस विचार से कुछ समय के लिए लोगों के मन में तुष्टि मिली, परन्तु आगे चलकर लोगों को उक्त विचार में त्रुटि प्रतीत होने लगी और लोगों की गवेषणात्मक बुद्धि नवीन सिद्धान्त को प्रकट करने के लिए छटपटा उठी। उक्त सिद्धान्त में असन्तोष का कारण यह हुआ कि दृष्टि आलम्बन विभाव की चित्तवृत्तियों पर पड़ी, उन पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें भान होने लगा कि ये चित्तवृत्तियाँ ही आनन्ददायिनी हैं–विभाव अथवा उनकी चेष्टाएं नहीं, क्योंकि नट अथवा नटी नाना प्रकार की प्रेम–पात्रीय चेष्टाओं का प्रदर्शन करके भी तब तक दर्शकों को आनन्दानुभूति नहीं करा पाते, जब तक कि वे प्रेमी की हर्ष, आवेग आदि चित्तवृत्तियों का सफल प्रदर्शन नहीं करते। अतः उन विचारकों ने यह स्थिर किया कि पुनःपुनः अनुसन्धान के द्वारा व्यभिचारीभाव (हर्षादिक चित्तवृत्तियाँ) ही रसरूप में परिणत हो जाते हैं– 'व्यभिचार्येव तथा परिणमति।' [8]

इस तरह उक्त तीनों सिद्धान्तों का जब क्रमिक विकास हो चुका, तब उन मतों पर आलोचनाएँ होने लगीं और आलोचना करने पर विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्याभिचारीभाव इन तीनों में से नियमतः किसी एक को आनन्ददायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि किसी–किसी में रमणीय–रूप माधुरी–मेदुर–नट को दखे ाकर ही आनन्द का अनुभव होता है। तो किसी नाटक में नट के आङ्गिक अभिनयों को देखकर दर्शक मुग्ध हो सकते हैं एवं किसी नाटक में नट के द्वारा किया गया मनोभावों का रूचिर–चित्रण ही लोगों को चमत्कृत करता है । अतः यह मानना उचित है कि इन तीनों भावों में जो जहाँ चमत्कारी हो, वहाँ वही रस है और चमत्कार–हीन होने पर कोई भी रस नहीं – 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः। अन्यथा त्रयोऽपि न।' [9] इतने पर भी विद्वानों की गवेषणात्मक बुद्धि विरत नहीं हुई, रस–विषयक गवेषणा का क्रम जारी ही रहा, जिससे यह ज्ञात हुआ कि विभाव और अनुभाव की अपेक्षा चित्तवृत्त्यात्मक व्यभिचारीभाव प्रधान हैं और उनसे भी रति, शोक, उत्साह, रोष, भय, विस्मय, जुगुप्सा और निर्वेद ये आठ भाव प्रधान हैं, क्योंकि इन आठों में से एक–एक भी ऐसा है, जो भिन्न–भिन्न नाटकों में आदि से अन्त तक प्रतीत होता रहता है जैसे, श्रृङ्गार–रस प्रधान नाटक में रति और करुण–प्रधान नाटक में शोक आदि। अन्य, हर्ष, स्मृति आदि ऐसे ज्ञात हुए, जो कभी अनुभूत होते थे , कभी नहीं। इस अनुभव के आधार पर उन विद्वानों ने भावों का नाम– 'स्थायी' रखा जो नाटक भर में प्रतीयमान थे। इसी तरह वे भाव व्यभिचारी कहलाये, जो कभी–कभी अतुभूत होते थे। [10] इस प्रकार विद्वानों को स्थायीभावों का ज्ञान हुआ , तब उन्हीं के आधार पर उन लोगों ने रस को नौ भागों में विभक्त कर दिया । तदनुसार उसके बाद से आज तक श्रृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत और शान्त, ये नव–विधरस सर्वसम्मत होकर प्रचलित हैं। परन्तु इस विभाग के हो जान` पर भी रस क्या है? यह प्रश्न विकटरूप में उपस्थित हुआ , क्योंकि इस वर्गीकरण के अनुसार पूवोर्क्त रसस्वरूप बोधक चारों ही मत तथ्यहीन प्रतीत होने लगे। अतः लोगों ने स्थिर किया कि –विभाव, अनुभाव

और व्यभिचारी, इन तीनों का समूह–'रस' है–'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसः। [11] इस सिद्धान्त के अनुसार अब उक्त दोष का प्रसंग ही नहीं उठ सकता, क्योंकि विभावादि त्रिक् में से एक–एक भले ही अनेक रस साधारण हो, पर उन तीनों का समूह भिन्न–भिन्न रस का भिन्न–भिन्न निश्चित ही रहेगा। अतः अब नियत रस की अभिव्यक्ति सम्भव है। इसके बाद ही 'नाट्यशास्त्र' प्रणेता–भरतमुनि का आविर्भाव हुआ। इन्होंने अब तक जो रस का स्वरूप अनिश्चय के हिंडोले ले रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठाकर रस की एक ऐसी सुव्यवस्थित परिभाषा बनाई कि विभाव,अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है– 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। [12]

एक अन्य विचारधारा के अनुसार ब्रह्माजी ने 'नाट्यवेद' नामक पंचमवेद की रचना की और नाट्याभिनय के द्वारा लोक में उसके प्रचार–प्रचार हेतु भरतमुनि को नियुक्त किया । तब भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की और नाट्याभिनय के द्वारा लोक में उसका प्रचार–प्रसार किया। उस नाट्यवेद अथवा नाट्शास्त्र का आत्मतत्त्व 'रस' है। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि बच्चों का उछल–कूद (आनन्द, प्रदशर्न) रस का उद्भव है, क्योंकि जब लोगों ने इस तरह के आनन्द–प्रदशर्न से अपना मनोरंजन होते देखा, तो विचारशील लोगों द्वारा अनुकरण करके मनोरंजन करने की परिपाटी चलाई गई। पीछे इस युग के कवियों द्वारा अतीत एवं वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को पद्यवद्ध कर अनुकरण कराया जाने लगा। उन्हीं अनुकरणों का नाम पीछे आकर अभिनय पड़ा जिसका उत्तरोत्तर विकास हुआ। तदनुसार तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि आस्वाद्यमान विभाव ही रस है– 'भाव्यमानो विभाव एव रसः।' तत्पश्चात् लोगों की विचारधारा में परिवतर्न हुआ और यह सिद्धान्त आपाततः स्थिर हुआ कि पुनः पुनः अनुसन्धीयमान अनुभाव ही रस है– 'अनुभावस्तथा।' इसके बाद विचाराकों ने यह स्थिर किय कि– पुनः पुनः अनुसन्धान के द्वारा व्यभिचारीभाव (हर्षादि चित्तवृत्तियाँ) ही रसरूप में परिणत हो जाते हैं– व्यभिचार्यव तथा परिणमति।' तत्पश्चात् विचारकों ने यह तय किया कि इन तीनों भावों में जो जहाँ चमत्कारी
हो वहाँ वही रस है और चमत्कार हीन होने पर कोई भी रस नहीं– 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः अन्यथा त्रयोऽपि न' इसके बाद तीनों के समदु ायरूप को रस माना गया – ' विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः।' अन्ततोगत्त्वा भरतमुनि का आविर्भाव हुआ और उन्होंने रस की एक ऐसी सुव्यस्थित परिभाषा दी कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है– 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

सन्दर्भ–सूची

1. जगन्नाथ (2016)। रसगङ्गाधर। झा, मदनमोहन (रसगङ्गाधरः संस्कृत–हिन्दी व्याख्यापेत)। वाराणसी, भारत, चौखम्बा सुरभारती। भूमिका, पृ–24 2. वही, पृ–24 3. वही, पृ–24 4. वही, पृ–24
5. भरत (2015)। नाट्यशास्त्र–पश्र ामभाग। गुप्त, अभिनव (नाट्यशास्त्र– अभिनवभारती टीका)। द्विवेदी, पारसनाथ (सम्पादक)। वाराणसी, भारत, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय। –1/18
6. जगन्नाथ (2016)। रसगङ्गाधर। झा, मदनमोहन (रसगङ्गाधरः संस्कृत–हिन्दी व्याख्यापेत)। वाराणसी, भारत, चौखम्बा सुरभारती। भूमिका, पृ–24 7. वही, पृ–25 8. वही, पृ–25 9. वही, पृ–25
10. वही, पृ–25 11. वही, पृ–25
12. भरत (2015)। नाट्यशास्त्र–द्वितीय भाग। गुप्त, अभिनव (नाट्यशास्त्र 'अभिनवभारती' टीका)। द्विवेदी, पारसनाथ (सम्पादक)। वाराणसी, भारत, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय। षष्ठोऽध्यायः, पृ–34